प्रेमोपहार

"सन्तोषो नन्दनवनं
शान्तिरेवहि कामधुक्"

शान्ति-धर्म्म

लेखक

गुलाबराय, एम. ए.
भूतपूर्व प्रौफ़ेसर, सेण्ट जौन कौलिज, आगरा

Blessed are the Peace-makers
For they shall be called the
"Children of God."
—Sermon on the mount.

प्रकाशक

कुमार देवेन्द्रप्रसाद
प्रेममंदिर—आरा

LOVE AND LIFE SERIES.

प्रेमोपहार

"प्रेमानुभव—सर्वोऽहम्"

"प्रेमपूजा—निस्स्वार्थ विश्वसेवा"

"प्रेमतत्त्व—आत्मीयभाव"

LOVE ALL **SERVE ALL**

EXPECT NOTHING.

प्रेम का मुख्य उद्देश्य

"द्वेषाभाव—सर्वव्यापी सुख"

"My 'Passion' shall burn
as the 'Flame of Salvation,'
The Flower of My 'Love' shall become
the 'Ripe Fruit' of Devotion."

— *Tagore's.*

प्रेमो जयति सर्वथा

माता पितादि गुरुजनों

के

चरणों में

उनके वात्सल्य रस द्वारा

सिञ्चित तथा सुवर्द्धित सत्शिक्षा-द्रुम

का

प्रथम फल

सादर सस्नेह समर्पित

"गुलाब"

प्रेम-मन्दिर

की

अपूर्व औषधियाँ



१ शक्ति बढ़ाने के लिए—"सहकारिता."

२ अमीर बनने के लिए—"सन्तोष."

३ मानसिक रोग दूर करने के लिए—'सम्यक्ज्ञान'

४ ऊँचे आदर्श बनने के लिए—"सेवा."

५ विश्व-विजय करने के लिए—"सहिष्णुता."

"जो लोग इन सब औषधियों को मिला कर इस 'पञ्च-सकार' के चूर्ण का सेवन करेंगे उन लोगों को कोई शारीरिक अथवा मानसिक रोग नहीं व्यापेगा"।

SHANTI-PATH

(By Ajita Prasada, M.A., LL.B.)

To Lord *Jinendra*, *Shri Shanta*,
The worshipped of all the world,
The giver of peace and joy,
I bow down my humble head.
Peace eternal may He award
To all the beings on earth
May I obtain by His favour
The highest gift of *Nirvana*.

Worshipped by *Indras* and the gods,
Be-jewelled with ear-rings, necklace and crown,
May the *Tirthankaras* bestow
Peace eternal all round.
Born of noble families
They gave light unto the world,
Their lotus feet are adored
By legions of gods celestial.

On worshippers and believers,
High saints and general devotees,
On ruler, town, kingdom, and country
Bestow peace O Glorious *Jinendra!*
Blessed be all subjects,
And the ruler just and strong,
May rains be good and timely,
And all diseases cease!

May famine, theft and pestilence
Not vex the people for a second,
May *Chakra* divine of *Jinendra*
Give joy to the world around!
Lords *Jinas* commencing from *Rishabha*
Destroyers of deadly karmas
Radiators of Perfect Knowledge
To earth may Happiness bring!

The Majesty of Calmness.

CALMNESS is singleness of purpose, absolute confidence, and conscious power,—ready to be focussed in an instant to meet any crisis.

The man who is Calm has his course in life clearly marked on his chart. His hand is ever on the helm.

'CALMNESS COMES EVER FROM WITHIN.'

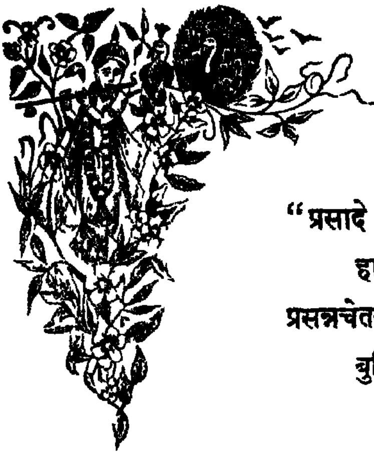
'CALMNESS IS THE CROWN OF SELF-CONTROL.'

To be ready for the great crises of life we must *learn serenity in our daily living.*

Calmness cannot be acquired of itself and by itself: it must come as the culmination of a series of virtues.

The man who is Calm does not selfishly isolate himself from the World, for he is intensely interested in all that concerns the 'Warfare of humanity.' His Calmness is but a Holy of Holies into which he can retire from the World and to get strength to live in the World. He realises that the 'full glory of individuality,'—the 'crowning of his self-control'—is—the MAJESTY of CALMNESS.

—*W. G. JORDON.*



"प्रसादे सर्वदुःखानां
हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु
बुद्धिःपर्य्यवतिष्ठते" ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

" Peace hath her victories
No less renowned than War."

—MILTON.

"जो ग़रीब सों हित करें, धनि 'रहीम' वे लोग ।
कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग" ॥

"होई न जाकी छाँह ढिग, फल 'रहीम' अति दूर ।
बाढ़े सो बिन काजही, जैसे तार खजूर" ॥

प्राक्कथन

> "प्रेम-शंख को फूँक कर, तजहु मोह भय भ्रान्ति ।
> क्षमा दया सन्तोष मय, फैलाओ शुभ शान्ति ॥"

प्रेमी पाठकगण !

मैं अपनी 'प्रेमोपहारमाला' का एक नव-विकसित कुसुम आप लोगों की सेवा में भेज रहा हूँ।

शान्तिरस की सुन्दर सुरभि के सञ्चार करने वाले बहुत से सुमन हिन्दी-साहित्योद्यान में खिले हुए हैं। उनकी सुगन्धि दूर दूर देशों तक फैली हुई है। और, उनके पुण्यदर्शनों ने बहुत से भारतवासियों के जीवनों को पवित्र किया है। किन्तु, आजकल की भावशून्य युक्ति-प्रिय समाज की, उन पुष्पों की ओर, रुचि नहीं। ऊँची से ऊँची बात को बीसवीं शताब्दी के लोग अपनी कुशाग्र-बुद्धि की तीक्ष्ण तलवार से काट छाँट कर धूल में मिला देते हैं।

आचार-शास्त्र-सम्बन्धी सिद्धान्तों में किसी को तर्क करने की अधिक जगह नहीं। तथापि, यदि कोई उनको वैज्ञानिक

आधार पर रख दे तो वह संशय की दोष-पूर्ण वायु से सुरक्षित हो जायँगे। इस ग्रंथ के लेखक हमारे परम मित्र गुलाबराय जी ने कर्त्तव्य-शास्त्र-सम्बन्धी अटल सिद्धान्तों को वैज्ञानिक तन्तुओं में जकड़ कर और भी सुदृढ़ बनाने का यत्न किया है। इस पुस्तक में न किसी नवीन मत का उपदेश दिया गया है और न इसके ग्रंथकार अपनी पुस्तक के लिए पूर्णता का दावा करते हैं। इस पुस्तक में प्राचीन परम्परा से प्राप्त उपदेशों को, वैज्ञानिक व्यवस्था से, दुहराने की चेष्टा की गई है।

सहृदय पाठकगण ! इस पुस्तक में लिखे हुए विचारों पर मनन करें। और, उनके बढ़ाने और प्रचार करने का प्रयत्न करें। तभी, इस पुस्तक का उद्देश्य सफल होगा। लोगों के विचारों को उत्तेजना देने के अर्थ ही इस ग्रन्थ का जन्म हुआ है। "शान्ति-प्रियता भारतवासियों के लिए स्वाभाविक है।" यह पुस्तक कोई नवीन सन्देशा नहीं देती। प्राकृतिक नियमों के अनुकूल आचरण में ही 'शान्तिधर्म' की उद्देश्य-सिद्धि हो सकती है। हमको प्रकृति के लक्ष्य की ओर देखना चाहिए। उस लक्ष्य से अपने लक्ष्य को मिलाना ही परम कर्त्तव्य है। सच्चरित्रता, सत्यता, सुशीलता, सदाचारिता, सहिष्णुता, समदर्शिता, उदारता, अहिंसा, दयालुता, क्षमा और सन्तोष आदि शान्ति के सुन्दर सोपानों द्वारा 'परमपद' की प्राप्ति हो सकती है। चित्त की शुद्धि में शान्ति है—इन्द्रिय-तृप्ति में नहीं। विमल-ज्ञान-वैराग्य में शान्ति का भण्डार है—मोह की निद्रा-तन्द्रा में नहीं। शान्ति

का निवास ऐक्य में है—भिन्नता में नहीं। अभ्यास और आध्यात्मिक अनुशीलन में शान्ति टिकती है—आलस्य में नहीं। एकान्त में शान्ति है—कोलाहल-कलह में नहीं।

'शान्ति-स्वरूप-परमात्मा' की प्रेम-प्रतिमा मानस-मन्दिर में स्थापित कर उसकी विधिवत् पूजा के निमित्त 'प्रेम-मन्दिर' की आधार-शिला रक्खी गई है। इस 'प्रेम-मन्दिर' में बैठ कर 'प्रेम-पयोनिधि-परमात्मा' की, ऐक्य के द्वारा, पूजा करने के अर्थ षट्[ॐ] सुमन-विभूषित गूँथने का संकल्प हुआ है। 'प्रेमोपहारमाला'

शान्तिप्रिय पाठिका पाठको! अपने सद्विचारों एवम् सच्चरित्रों द्वारा इस प्रेम-पूजा में योग दीजिए। इस पूजा से आपके विचार परिमार्जित और परिष्कृत हो जायँगे। प्रतिभा-प्रस्फुटित, बुद्धि चमत्कृत और आत्मा अधिकाधिक प्रकाशित हो जायगी। राग द्वेषादि मानसिक-विकार विलीन हो जायँगे। संसार भर में प्रेम के स्वतंत्र क़िले पर शान्ति की विजयवैजयन्ती फहराने लग जायगी।

"Peace and good will to all mankind." !!!

प्रेम-मन्दिर,
आरा.

शान्ति-शरणागत
—'देवेन्द्र'

[ॐ] 'सेवाधर्म', प्रेमधर्म, "शान्तिधर्म", यशोधर्म, मैत्रीधर्म, मोक्षधर्म।

शान्ति का सन्देश

बहुत से लोग ज्ञान और क्रिया में बड़ा भेद समझा करते हैं। उनके मत से अधिक ज्ञानवान् पुरुष क्रिया-परायण नहीं होते और कृत-बुद्धि लोग बहुत समय मनन में व्यय नहीं करते। बहुत से साक्षर पंडित-जन राक्षसी कार्य्य करने में लज्जित नहीं होते। और और बहुत से साधुवृत्ति के लोग अपनी निरक्षरता ही में मग्न रहना चाहते हैं।

क्या ज्ञान और क्रिया में ऐसा विरोध है? नहीं; यह भेद भ्रम मात्र है। जो लोग क्रियावान् नहीं, उनको हम पूरा पण्डित भी नहीं कह सकते। ज्ञान की कमी ही के

कारण लोग निष्क्रिय हो बैठते हैं। अथवा, बुरे कामों में प्रवृत्त हो जाते हैं। फ़ारसी में किसी ने कहा है—"नीम हकीम ख़तरये जान—नीम मुल्ला ख़तरये ईमान"—इसी बात को अँग्रेज़ी में भी कहा है—

"A little knowledge is dangerous."

सच्चा ज्ञान वही है जो तुरन्त दृढ़ संकल्प में परिणत होकर क्रिया रूप से प्रकट हो जावें। जिन लोगों का ज्ञान निश्चय नहीं, उनके संकल्प भी क्षण क्षण बदलते रहते हैं। क्रियावान् बनने के लिए सच्चे ज्ञान की बड़ी ही आवश्यकता है। सत्ज्ञान से ही शुभ कार्य्यों का उदय होता है। विना ज्ञान के आचार की शुद्धता सम्भव नहीं। जैसे हमारा ज्ञान वैसा ही हमारा आचार। जैसे हमारे विचार वैसी ही हमारी क्रियायें।

जो लोग शरीर को ही आत्मा मानते हैं, उन लोगों के कर्त्तव्यशास्त्र में भी—"ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्"—का ही आदेश दिया जाता है। और जहां—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"—की पाटी पढ़ाई जाती है, वहां—"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति"—का उपदेश दिया जाता है। केवल भौतिक विज्ञान अथवा रसायन-शास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान ही व्यवहार-योग्य नहीं; वरन्, सब ही ज्ञान क्रियात्मक हैं। हमारे आचार शास्त्र का मूल हमारे तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी विचारों में है। विना यथार्थ ज्ञान के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय नहीं हो सकता। ज्ञान और क्रिया

का परस्पर सम्बन्ध है। ज्ञान से क्रिया की शुद्धि और क्रिया से ज्ञान की स्पष्टता होती है। भारतवर्ष में तत्त्व-ज्ञान-सम्बन्धी विचारों की कमी नहीं। प्राय: सभी मत वाले आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं। वह लोग भिन्न जीवों में किसी न किसी प्रकार की एकता भी मानते हैं। जो लोग जीवों को एक आत्मा का विकाश नहीं मानते, वह लोग जीवों में एक से गुण और एक सी शक्तियाँ और सम्भावनाएँ तो मानते हैं। एकता चाहे वस्तु में मानी जावे चाहे गुणों में; किन्तु एकता अवश्य मानी जाती है। इस जीवों की एकतारूपी सिद्धान्त के आधार पर, हमारे आचार कैसे बनना चाहिये? आगे के पृष्ठों में, पुस्तक के आकार एवं बुद्धि की परिमितता के अनुसार, इस प्रश्न का उत्तर दिये जाने का यत्न किया जायगा। इस पुस्तक के विचारों से वेदान्तशास्त्र की आचार-पद्धति पर कुछ झलक पड़ सकती है।

यूरोपीय कर्त्तव्यशास्त्र (Ethics) के पंडितगण आत्म-सम्भावन (Self-Realisation) को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णायक मानते हैं। इस पुस्तक में आत्म-सम्भावन को ही सिद्धान्त रूप से माना है। केवल भेद इतना ही है कि, आत्मा की प्राप्ति मनुष्य-समाज पर ही खतम नहीं हो जाती है। वरन्, आत्मा के विस्तार में सारा विश्व आ जाता है। इस मत के अनुसार संसार के संगठन का मूल आत्मा की एकता में है—अर्थशास्त्र के नियमों में नहीं।

विश्वसेवा का आधार आत्मा के विस्तार में है—स्वार्थ और संकोच में नहीं।

परोपकार स्वहित और परहित का अभेद-सूचक है। परोपकार का अर्थ बदला न समझा जावे। अहिंसा धर्म सच्ची एकता और बराबरी का विज्ञापक है। राजनैतिक समता की पूरी बराबरी नहीं कह सकते। सच्चा आत्म-सम्भावन सारे चेतन संसार की प्रकट और अप्रकट शक्तियों के संघर्षण-शून्य पूरे पूरे विकाश में ही हो सकता है। जो कार्य्य सारे संसार की रक्षा और उन्नति में योग देने वाले हैं, वही कर्त्तव्य कार्य्यों की कोटि में रखने योग्य हैं। सब की एकता मानते हुए संसार की रक्षा और उन्नति-साधन की चेष्टा करना ही हमारा परम पुरुषार्थ है।

जो लोग जीवों की समता अथवा आत्मा की एकता के सच्चे विश्वासी हैं, उनके लिए विश्व-सेवा-धर्म का पालना कोई कठिन कार्य्य नहीं। उनके लिए धर्म स्वाभाविक है। आत्म-रक्षा प्राणी मात्र का नैसर्गिक धर्म है। विद्वान् लोग अपनी आत्मा के विस्तार में सारे संसार को वेष्टित कर लेते हैं। इसलिए उनकी आत्मरक्षा में सब की रक्षा स्वभाव से ही हो जाती है। सच्चा ज्ञान होने पर श्रेय और अश्रेय में अन्तर नहीं रहता। अविद्या ही संघर्षण का मूल है। जब तक संसार में अविद्या वर्त्तमान है, तब तक द्वेष और संघर्षण को दूर करना कठिन है।

इसलिए सच्चे ज्ञान के प्रचार का यथाशक्ति यत्न करना चाहिए।

यह पुस्तक शान्ति-संस्थापक सिद्धान्तों के प्रचार के अर्थ ही लिखी गई है। भोजन देने वाले का तो पुण्य होता ही है; किन्तु, परसने वाले को भी थोड़ा बहुत फल मिल ही जाता है। सिद्धान्तों का प्रचार करना भी विश्व-सेवा का एक अंग है। यह सिद्धान्त मेरे नहीं हैं। मेरा काम इनका संग्रह करके दुहराने का है। जो सुख सज्जन-समागम से प्राप्त होता है, क़रीब क़रीब वैसा ही सुख मुझको इन सिद्धान्तों के दुहराने से हुआ है। इस सुख के लिए, मैं अपने प्रिय मित्र कुमार देवेन्द्रप्रसाद जैन का चिरकाल तक अनुगृहीत रहूँगा। क्योंकि, उनकी शुभ प्रेरणा के बिना, इन विचारों का संकलन और सञ्चय होना असम्भव था।

प्रिय पाठकवृन्द! परसने वाले के दोषों की ओर ध्यान न देकर इन विचारों को साभिरुचि ग्रहण करने की कृपा कीजिये।

"परो अपावन ठौर पै
कञ्चन तजै न कोय"

मैनपुरी
चैत्र १९७४

विनीत
गुलाबराय

आत्म-रक्षा

"प्राणानां परिरक्षणाय सततं, सर्वा क्रिया प्राणिनाम् ।
प्राणेभ्योऽप्यधिकं समस्तजगतां, नास्त्येव किञ्चित्प्रियम् ॥

Tell me, where lives that thing so meek and tame,
That doth not, all his living faculties,
Put forth in preservation of his Life.

यह संसार विचित्र है। इसमें नाना प्रकार के जीवधारी बसते हैं। और, वे अपने स्वभावानुकूल, नाना प्रकार की क्रियायें किया करते हैं। यदि हम क्षणभर इस संसार के क्रिया-वैचित्र्य की ओर ध्यान दें, तो चकित होकर, संसार की एकता में विश्वास छोड़ बैठेंगे।

यदि कोई मनुष्य वायुयान (Aeroplane) पर चढ़-कर, इस पृथ्वी के किसी एक देश को, पूरी तरह से देख सके, तो उसको उसी क्षण, क्या क्या विचित्र दृश्य दिखाई पड़ेंगे। कोई महाशय सिगरेट पीकर, रेल के एञ्जिन की भाँति, धुएँ के बादल बनाते हुए, दिखाई पड़ेंगे। कहीं पर, कोई कुम्हार, चक्र को फिरा कर, भाँति भाँति के बर्तन उतार रहा होगा। कोई महाशय, समाज में प्रशंसा पाने के अर्थ, अपनी पोशाक सँवारते—सम्हा-लते—हुए, नज़र आवेंगे। कोई महाशय, गीत गाकर अपने दिल को बहला रहे होंगे। कहीं पर युद्ध होता हुआ दिखाई पड़ेगा। और, वहीं पर देश की यश तथा मान-मर्य्यादा स्थापन करके के लिए गये हुए नव युवकों को, बारूद की अग्नि में भस्म होते हुए देख कर, हृदय कँपने लगजावेगा। उसी समय, किसी और स्थान में, कोई महाशय, अपनी मित्र-मण्डली में बैठे हुए, अट्टहास हँस कर, सांसारिक चिन्ताओं का तिरस्कार कर रहे होंगे।

उसी काल में, कोई विचारा ग़रीब आदमी भी, दिन भर के परिश्रम से थका हुआ, सन्ध्या की प्रतीक्षा कर रहा होगा कि, कब साँझ हो और मैं घर जाऊँ। कोई महा-शय, समाचार-पत्रों को पढ़ पढ़ कर, किसी राजनैतिक वक्तृता के लिए, मसाला इकट्ठा कर रहे होंगे। बहुत से ऐसे भी मनुष्य होंगे, जो भगवत्-गुणगान कर, संसार

के बन्धनों से मुक्त होने की इच्छा में मग्न होंगे। कहीं पर लोग नाना प्रकार के कष्ट भोग कर, अपने पापों का उपशमन करते हुए, दिखाई पड़ेंगे। हमारे कल्पित वायुयान (Aeroplane) में चढ़े हुए मनुष्य को, बहुत से वकील, बैरिष्टर भी, दिखाई पड़ेंगे, जोकि धनोपार्जन के हेतु, न्यारा साझा कराने की फ़िक्र में, होंगे। कहीं पर ऐसे मनुष्य भी दिखाई पड़ेंगे, जो भारतवर्ष के उद्धार के अर्थ, नाना भाँति की कल्पनाएँ कर अपनी देश-भक्ति का परिचय दे रहे होंगे। उस समय, हमारे कल्पित मनुष्य के दृष्टि-क्षेत्र में, बहुत से ऐसे मनुष्य भी होंगे, जो अपने बालों को एक सा रखना ही, परम पुरुषार्थ समझते होंगे। कहीं पर ऐसे मनुष्य भी दिखाई पड़ेंगे, जो पुस्तकालय में बैठे हुए, पुस्तकें पढ़ पढ़ कर, अपनी आत्मा को बड़े बड़े लेखकों की आत्मा से मिला रहे होंगे।

उसी काल में, कोई महाशय, अपनी रबरटायर बग्घी में, हवाखाने जारहे होंगे। कहीं मित्रों के आगमन से संयोग-सुख हो रहा होगा। और, कहीं, वियोग का दारुण दुःख ! कहीं अभीष्ट-प्राप्ति के कारण, किसी मनुष्य का हृदय, हर्ष के मारे फूला नहीं समाता होगा। और, कहीं कोई बिचारा असफल-मनोरथ मनुष्य, सिर नीचे किये हुए, दैव की निर्दयता के ऊपर, विचार कर रहा होगा। इस क्रिया-वैचित्री की कुछ भी हद नहीं।

यदि हम पशु-संसार की ओर दृष्टि डालें, तो वहाँ भी यही विचित्रता दिखाई पड़ेगी। कहीं शेर, मृगों के हृदय में भय उत्पन्न कर रहा होगा। कहीं हाथी, अपनी सूंड में जल भर कर, चारों ओर जल की वर्षा कर रहा होगा। कहीं पक्षीगण, अपने मीठे शब्द से वन को गुञ्जायमान कर रहे होंगे। कहीं भौंरा, इस फूल से उस फूल की ओर जाकर, कवियों के मन में, नानाप्रकार की युक्तियाँ उत्पन्न कर रहा होगा। कहीं चींटी, एक छोटे से अन्न के कण को, बड़े परिश्रम के साथ, अपने बिल में, खींचे जा रही होगी। कहीं कुत्ता, पूँछ हिला हिला कर, अपनी स्वामि-भक्ति का परिचय दे रहा होगा। कहीं बगुला, मछली को ग्रास बनाने के हेतु योग-समाधि में बैठा हुआ—'काक-चेष्टा, बको-ध्यानी, —इस लोकोक्ति को सार्थक कर रहा होगा। कहीं तोता, किसी भक्त जन के गृह में—'चित्रकूट के घाट पर भइ संतन की भीर'—कह कह कर, उस घर के लोगों के हृदय का आनंद बढ़ा रहा होगा। कहीं मछली, शान्त-सुस्थिर जल में से उछल उछल कर, बिजली का सादृश्य दिखा रही होगी। इसी प्रकार, सब ही जीवजन्तु, नाना प्रकार की केलियों द्वारा, इस विलक्षण संसार को शोभायमान बनाने के अर्थ, चेष्टा कर रहे होंगे।

यह सब नाना भाँति की क्रियायें, किस अर्थ हो रही

हैं। क्या यह सब चर-संसार उन्मत्तवत् चेष्टा कर रहा है? क्या यह सब परिश्रम, बिना किसी प्रयोजन के, हो रहा है? ऐसा तो नहीं हो सकता। क्योंकि,—'प्रयोजनमनुद्दिश्य मंदोऽपि न प्रवर्त्तते'—प्रयोजन तो अवश्य होगा। किन्तु, क्या कोई ऐसा प्रधान प्रयोजन हो सकता है, जिसके अन्तर्गत सब और प्रयोजन आजावें? क्या हम इन परस्पर भेद वाली क्रियाओं को एक नियम में बांध सकते हैं? ऐसा एक नियम अथवा प्रयोजन, हम को अवश्य मानना पड़ेगा। नहीं तो, इस संसार की सभी क्रियायें व्यवस्था-शून्य हो जायँगी। फिर, न इन में कोई नियम रहेगा—न कोई प्रयोजन। इस अस्त-व्यस्त अवस्था में, संसार का चलना कठिन हो जायगा।

अब, यह प्रश्न उठता है कि, वह परम पुरुषार्थ क्या है, कि जिस के लिए यह सारा नाटक खेला जा रहा है। वह कौन सा नियम है, जो सारे संसार की क्रियाओं को, एक सूत्र में बांधे हुए है। वह नियम—"आत्म-रक्षा"—का है। यह दो शब्द, सारे संसार की, अनेकानेक क्रियाओं में, प्रवृत्ति करारहे हैं। सभी जीव-धारी, अपनी सत्ता की स्थिति, चाहते हैं। आध्यात्मिक दृष्टि से यदि देखा जावे, तो यह स्थिति की इच्छा, ब्रह्म की सत्ता से लगी हुई है। ब्रह्म सत् है। इस लिए, सब ही, ब्रह्म के अंश होने के कारण, अक्षय सत्ता की चेष्टा करते हैं।

आत्म-रक्षा का नियम सारी चर-सृष्टि में व्याप्त है। यही चेतन-सृष्टि भर की क्रियाओं का आधार है। संसार में इस से बढ़ कर और कोई चालन शक्ति नहीं है।

कहीं इस नियम का पालन, जान कर होता है। और, कहीं बिना जाने स्वाभाविक रीति से। किन्तु, ऐसा कोई जीव नहीं है, जिस की क्रियाओं का अन्तिम आधार, आत्म-रक्षा न हो। संसार में इससे उच्च कोटि के नियम होंगे तो सही, किन्तु—उनकी व्याप्ति आत्म-रक्षा की बराबर नहीं हो सकती। उच्च कोटि के नियमों का पालन, उन्नत जीव ही कर सकते हैं। किन्तु, आत्म-रक्षण का नियम ऐसा है, जिस का पालन, सूक्ष्मादपि सूक्ष्म कीड़ों से लेकर मनुष्य पर्य्यन्त, सब को करना पड़ता है। क्या बालक, क्या वृद्ध, क्या सन्त, क्या पापी, सभी अपनी स्थिति चाहते हैं। छोटे छोटे कीड़े अपनी प्राकृतिकप्रेरणा से, आत्म-रक्षा के निमित्त, नाना भाँति की योजनाएँ करते हैं। अनेक कीट पतंग फूल और पत्तियों का रंग ग्रहण कर लेते हैं, जिससे कि उनके शत्रु उनको फूल या पत्ती समझ कर, छोड़ दें। जब कोई रोगोत्पादक कीटाणु हमारे शरीर में प्रवेश करना चाहता है, तो हमारे रुधिर के कीड़े, उससे संग्राम कर, उस का नाश करने की यथा-शक्ति चेष्टा करते हैं। प्रकृति ने भी प्रायः सभी जीव-धारियों को उनकी शरीर की बनावट के अनुसार आत्म-रक्षा के

साधन दे दिये हैं। जिन जानवरों के दन्त, नख, शृङ्ग आदि कोई रक्षा के साधन नहीं हैं, उनके लिए भी प्रकृति ने कुछ न कुछ बन्दोबस्त कर ही दिया है। यदि मनुष्य प्राकृतिक शस्त्रों से वञ्चित रहा है, तो उसको बुद्धि है, जिसके द्वारा वह अपनी आत्म-रक्षा के लिए, हर प्रकार के यत्न कर सकता है।

मृत्यु का भय सब ही को लगा हुआ है। मृत्यु से बचने के लिए मनुष्य नाना प्रकार के उपाय करते हैं। बूढ़े आदमी भी, जिन्होंने संसार का सारा सुख देख लिया है, वह भी मौत के नाम से डरते हैं। भर्तृहरि महाराज ने कैसा अच्छा कहा है—

*निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः।
समानाः स्वर्याताः सपदि सुहृदो जीवितसमाः॥
शनैर्यष्ट्योत्थानं घनतिमिररुद्धे च नयने।
अहोधृष्टः कामस्तदपि मरणापाय चकितः॥

दु:खी से दु:खी मनुष्य, यह नहीं चाहते कि, हम अपने जीवन का अन्त कर दें। मनुष्य, संसार की आपत्तियों

---

*विषय-भोग की इच्छा जाती रही। लोगों में अपना मान घटगया। अपनी उमर के लोग भी परलोक-वासी होगये। जो इष्ट मित्र थे उन का भी जीवन पूरा सा होगया। स्वयं भी लकड़ी टेक कर उठने लगे। आँखों के सामने भी अँधेरा आने लग जाता है। हाय! तोभी यह काया ऐसी निर्लज्ज है कि, अपना मरण सुन कर चकित हो जाती है।

से घबरा कर, आत्म-हत्या तक का कभी कभी संकल्प करते हैं; और फिर,—"जीवन् नरो भद्रशतानि पश्येत्"—ऐसी ऐसी बातें विचार कर रह जाते हैं। यदि कदाचित् कोई मनुष्य, आत्म-हत्या करने के अर्थ, विष खा ले, तोभी, उसको अपने किये हुए का पश्चात्ताप आता है कि, मैं यदि ऐसा न करता तो अच्छा होता। आत्म-हत्या का शास्त्र में भी निषेध है। उपनिषदों में लिखा है कि, आत्म-हत्या करने वाले लोग, अँधेरे से घिरे हुए, असूर्य्य नाम वाले लोकों में, जाते हैं।

मौत को लोग चाहे जितना याद करते रहें, लेकिन जब वह आजाती है, उस समय उस का स्वागत करना, कठिन होता है। दूरस्थ पर्वतों की भाँति, मृत्यु की वार्ता ही, प्रिय मालूम होती है। किन्तु, निकट आने पर, वह भयंकर हो जाती है। मरते समय, यदि किसी से पूछा जाय कि, तुम और दो चार दिन जीवित रहना पसन्द करोगे ? तो ऐसा कोई विरला ही होगा, जो इस प्रश्न के उत्तर में—'न'—कह सके।

आदमी, केवल दो हालतों में, मरना पसन्द करता है। या तो, जब वह यह देखता है कि, संसार में, उसको मुँह दिखलाने की जगह नहीं; अथवा, जब कि धर्म्म और देश का हित, उसके प्राणों की आहुति दिये बिना, सधता नहीं मालूम देता। इन दोनों अवस्थाओं में से,

कोई भी साधारण नहीं है। प्रथम दशा में तो, मनुष्य अपने को संसार के लिए, मरा हुआ समझता है। संसार उसके रहने के योग्य नहीं होता; एक तरह से, उसकी मृत्यु ही हो जाती है। वह सोचता है कि, मेरी कीर्त्ति रूपी असली आत्मा तो उठ ही गई; फिर, इस भौतिक शरीर को धारण करने ही से क्या ? इसकी स्थिति से कुछ भी अर्थ-सिद्धि नहीं होने की। दूसरी स्थिति में वह यह समझता है कि, उसकी सच्ची स्थिति, उसके धर्म्म और देश की स्थिति में, रह सकती है। वह अपनी आत्मा का, अपने देश और धर्म्म से, एकीभाव कर लेता है। उसके विचार में ऐसा आता है कि, मेरे मर जाने से, मेरी बृहत् आत्मा जीवित रह सके तो, मेरा मरना ही श्रेय है। दोनों ही दशाओं में, मनुष्य अपनी सच्ची स्थिति को चाहता हुआ, आत्म-रक्षा वाले नियम की सर्वव्यापकता का परिचय देता है। ऐसी अवस्थाओं में भी, लोग इस बात का भय करते रहते हैं कि, इस प्राकृतिक नियम की प्रबलता के कारण, उनका संकल्प बदल न जाय। इसी कारण, वह लोग ऐसा उपाय ढूँढ़ा करते हैं, जिससे कि उनकी मृत्यु में देर न लगे। वे इस प्राकृतिक नियम का सामना करने से डरते हैं। सारांश यह है कि, जो जिसको अपनी आत्मा समझता है; चाहे वह देश हो, चाहे वह धर्म्म हो, चाहे वह और कोई प्यारी वस्तु हो, उसका

वह नाश नहीं करना चाहता। नाश से केवल हत्या ही का अर्थ न लिया जावे; अपने आदर्श अथवा हित के विरुद्ध कार्य्य करना भी अपना सर्वनाश ही करना है। जो लोग, शरीर को ही आत्मा मानते हैं वे हर प्रकार की चोरी करेंगे—झूँठ बोलेंगे। किन्तु, अपने शारीरिक सुख में फ़र्क़ न आने देंगे—ऐसी ही चेष्टा करते रहेंगे जिससे कि दैहिक सुख में किसी तरह बट्टा न पड़े।

जो लोग अपनी आत्मा को शरीर से ऊँचा समझते हैं, चाहे जितना शारीरिक कष्ट क्यों न आवे, पर वह अपनी आत्मा का हनन करना नहीं चाहेंगे। "प्राण जाइ बरु, बचन न जाई"। जो लोग अपनी आत्मा का विस्तार अपने शरीर से बाहर भी देखते हैं, वह लोग अपना अनहित भी करके, दूसरों के हितसाधन में ही परम-सुख मानते हैं।

जैसे जैसे आत्मा के विषय में हमारे विचार उन्नत होते जाते हैं; तदनुकूल, हमारे आत्म-रक्षा के विचार में, परिवर्त्तन होता रहता है। उसी के अनुसार, हमारा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का आदर्श, ऊँचा होता जाता है। यही ज्ञान और क्रिया का सम्बन्ध है।

भले और बुरे काम, सब ही, आत्मरक्षा के निमित्त होते हैं। चोर आत्मरक्षा के लिए ही, घर से बाहर, गाढ़ी अँधेरी रात में, निकल पड़ता है। धर्म्मात्मा लोग

आत्म-रक्षा ही के लिए, धार्म्मिक कर्म्मों में अपनी दृढ़-प्रवृत्ति कराते हैं। किन्तु, समाज में चोर का काम दण्डनीय ठहराया जाता है; और, धर्म्मात्मा लोगों के काम की प्रशंसा की जाती है। इसका कारण यह है कि, दोनों के आत्मरक्षा के विचार में, अन्तर है। चोर आत्मरक्षा की उचित सीमा का उल्लंघन कर जाता है, और उसके आत्मा-विषयक विचार भी ऊँचे तथा पक्के नहीं होते। किन्तु, धर्म्मात्मा लोग अपनी आत्मरक्षा करते हुए, दूसरों की आत्मरक्षा में सहायता देते हैं।

जिस प्रकार, लोगों के आत्मा-सम्बन्धी विचार अलग अलग हैं; उसी भाँति, आत्मरक्षा के साधनों में भी, भेद है। जो लोग, अपनी आत्मा को, शरीर की सीमा में, संकुचित नहीं करते; वे अपनी आत्मरक्षा के निमित्त, ऐसे ऐसे साधन ढूँढ़ते हैं, जिनसे कि किसी व्यक्ति को, किसी प्रकार की हानि, न पहुँचे। और, जो लोग—'शरीरेत्यात्मा'—के मत का अवलम्बन करते हैं, वे अपने हित के सामने, औरों का हित तुच्छ समझते हैं। जानवरों में भी, आत्मरक्षा एकही प्रकार से नहीं होती। जिस प्रकार, बकरी अपनी आत्मरक्षा करती है; उसी प्रकार से सिंह नहीं करता, वरन् सब का ढंग अलग अलग है।

हमारा, सब का, आदर्श एक ही है। आत्मरक्षा

सब ही चाहते हैं। किन्तु, अपनी अपनी प्रकृति और योग्यता के अनुकूल, हम अपनी रक्षा के लिए, अच्छे अथवा बुरे साधनों को, काम में लाते हैं। कोई तो संघर्षण द्वारा अपनी रक्षा करते हैं; और कोई शान्ति-पूर्वक। इन्हीं साधनों के भेद से, आत्मरक्षा में भी दो भेद हो गये। एक संघर्षण युक्त—दूसरी साम्यमयी। आगे चल कर, सविस्तर विवरण पढ़िए।



संघर्षण-युक्त आत्मरक्षा

हिंसयाप्यप्रशान्तानां शक्तानां कलिकर्मसु ।
रणरक्ताभिषिक्तानां भक्तार्थोऽयं समुद्यमः ॥

—'क्षेमेन्द्र'

आत्मरक्षा—प्रकृति का पहला नियम है। किन्तु, इस नियम के पालन होने में बहुत सा संघर्षण एवं क्षय भी होता है। प्रायः सभी जीव-धारियों को जीवन की स्थिति के लिए संघर्षण करना पड़ता है। विशेष कर वनस्पति और पशु-संसार में, संघर्षण ही द्वारा आत्मरक्षा होती है। मनुष्यों का जीवन भी लड़ाई और झगड़े से ख़ाली नहीं है। बड़े बड़े पौधों की प्राण-पुष्टि के लिए छोटे छोटे पौधे उखाड़ डाले जाते हैं। बिना छोटे

जीवों के नाश हुए, हिंसक पशुओं का जीवित रहना भी, नितान्त असम्भव हो जावेगा। यदि सिंह की दृष्टि से देखा जावे तो मनुष्य और पशु-समुदाय उसकी उदर-पूर्त्ति ही के अर्थ रचे गये हैं। जब दो मानव जातियों में झगड़ा खड़ा होता है, तब एक जाति दूसरी जाति की सत्ता को, बिल्कुल मिटा देना ही, अपना परम धर्म, समझती है। कुछ लोगों का यह विश्वास था कि, मनुष्यों की संख्या, खाद्य पदार्थों की अपेक्षा, अधिक बढ़ती है। इस कारण, मनुष्य-जाति में भी संघर्षण और नाश परमावश्यक है। भाग्यवश, नव-जात विज्ञान ने इस कल्पना को निर्मूल साबित कर दिया है। तथापि, पशुओं की तरह मनुष्यों में, आपस के लड़ाई-झगड़े, चले ही जाते हैं। इस संसार में केवल खाद्य पदार्थ ही तो झगड़े की बुनियाद नहीं। दुर्बल का कहीं कुछ ठिकाना नहीं। न तो दुर्बल पशु ही, संसार में जीवित रहने के योग्य, समझे जाते हैं; और न निर्बल जातियाँ ही, बलवान जातियों के सामने, ठहर सकती हैं। जिन पशुओं का नाश हो जाता है, उनके लिए तो बस यही कहते हैं कि, वे संसार में जीवित रहने के योग्य न थे। वे अपने को इस संसार के अनुकूल न बना सके, इसीलिये उनको यह संसार छोड़ना पड़ा। कवि 'वृन्द' कहते हैं कि—

सबै सहायक सबल को, कोई न निबल सहाय।
पवन जगावत आग को, दीपहिं देत बुझाय॥

सभ्य जातियों में से, मनुष्य के मांस खाने की कुप्रथा, जाती रही है। किन्तु, पशुओं को आज कल की सभ्यता से कुछ भी लाभ नहीं हुआ। मनुष्य खाये नहीं जाते सही, परन्तु वह कल और बारूद के सहारे युद्धों में आहुति तो बन ही जाते हैं। शान्ति के दिनों में भी, इतनी प्रतिद्वन्द्विता और द्वेष-ईर्षा-बुद्धि घनी बनी रहती है कि, एक जाति के लोग दूसरी जाति वालों को विविध प्रकार की हानियाँ पहुँचाने को कमर कसे रहते हैं। एक जाति के भीतर ही, इतने लड़ाई और झगड़े पड़े रहते हैं कि, उनका कभी अन्त नहीं होता। एक आदमी दूसरे की उन्नति को सहर्ष नहीं देख सकता। घर घर में ही एक दूसरे के शत्रु बने हुए हैं। आजकल की व्यवसायिक उन्नति तो एक दम प्रतिद्वन्द्विता ही पर निर्भर है। यह सब बातें मुक्तकण्ठ से बतला रही हैं कि,मनुष्य जाति भी संघर्षण से ख़ाली नहीं। सामान्य दृष्टि के द्वारा देखने से मालूम होगा कि, यह संघर्षण का नियम भी, आत्मरक्षा के नियम की भाँति, विश्वव्यापी है। यदि हमको यह मालूम हो जाय कि संसार में संघर्षण किस अर्थ होता है तो हमारा भ्रम मिट जावेगा। सारा संघर्षण आत्मरक्षा के ही निमित्त होता है। संसार में, जितने लड़ाई-झगड़े होते हैं, आत्मरक्षा ही उनका मूल है। संघर्षण मात्र ही किसी का लक्ष्य नहीं। सब प्रकार का संघर्षण स्थिति के अर्थ होता है।

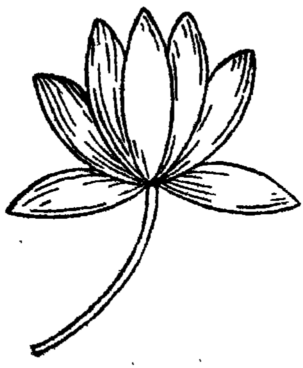
आत्मरक्षा की प्रधानता सब ही को माननी पड़ेगी। किन्तु, हम अपने स्वार्थवश, आत्मरक्षा की युक्ति, अपने से इतर मनुष्य या जीवों के लिए नहीं लगाते। स्वार्थ ही संघर्षण का मूल है। पशुओं की भाँति हमारी दृष्टि का क्षेत्र सङ्कुचित रहता है। हम अपने ही को संसार का केन्द्र मानते हैं। और, हमारी दृष्टि का घेरा केन्द्र से आगे नहीं बढ़ता। निकटस्थ पदार्थों के अतिरिक्त, हम और किसी वस्तु की सत्तानहीं मानते। हम लोगों में पाशवी अंश बलवान है। उसी की प्रबलता के कारण, हम में यह दृष्टि-सङ्कोच आ जाता है। ज्यों ज्यों हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, त्यों त्यों हम में से पाशवी अंश कम होता जा रहा है। लोगों को पैशाचिक कर्मों से रोकने के लिए ही न्यायालय और कारागार स्थापित किये जाते हैं। हम लोगों में जो पाशवी प्रवृत्ति है, उसी का बलि-दान करना 'शान्ति-धर्म' की आचार-पद्धति के अनुसार हमारा परम-कर्त्तव्य है।

हमारे उच्च और नीच भावों में सदा संग्राम होता रहता है। यदि हम अपनी शक्तियों को पारस्परिक संघर्षण से हटा कर, नीचे ले जाने वाली प्रवृत्तियों का, अपने ऊँचे आदर्श के अनुकूल, संशोधन करने में लगावें, तो सच्चे विजयी कहलाने के पूर्ण अधिकारी बन जावेंगे।

वास्तव में देखा जाय, तो जातियों के संघर्षण से,

हमको यही शिक्षा मिलती है कि, इस संसार में जो कुछ काट-छाँट हो रही है, वह नीचे को ऊँचे उठाने के अर्थ। छोटे छोटे पदार्थ नाश को प्राप्त हो, बड़े में मिला लिये जाते हैं। जानवर भी इसी नियम का पालन कर रहे हैं। किन्तु, उनके अज्ञान के कारण, इस नियम के पालन किये जाने में, बड़ा क्षय होता है। हम मनुष्य हैं। हम में जानवरों से कुछ विशेषता है। क्या हम बिना क्षति अथवा संहार किये, संसार के विकाश में योग नहीं दे सकते ? क्या बिना हत्या-काण्ड रचे, हमारी रक्षा नहीं हो सकती ? क्या हम शान्ति के मार्ग पर चल कर उन्नति को नहीं प्राप्त कर सकते ?

इसी विचार-पथ पर चले चलिए। अगले अध्याय में इस प्रश्न का उत्तर मिल जायगा।



साम्य-मयी आत्म-रक्षा

"आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति"

Man is undoubtedly 'the paragon of animals,' the highest link in a vast chain, but it is a chain one and the same right to live belongs to all.

—James Ward.

इस संसार का प्रवाह उन्नति की ओर बह रहा है। हम सबको इस प्रवाह के साथ बहना पड़ता है। प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी शक्ति के अनुकूल इस संसार की उन्नति में योग देते हैं। किन्तु, इस उन्नति के साथ साथ क्षय भी बहुत होता है। क्या हम संसार की उन्नति में सहारा देते हुए भी इस संघर्षण-जन्य-क्षय को कम कर सकते हैं ? आत्म-रक्षा का नियम प्राणी मात्र के साथ लगा हुआ है। छोटे छोटे कीड़ों का

जीवन, हमारे लिए चाहे तुच्छ क्यों न हो, किन्तु उनके लिए वही अमूल्य है। जो अधिकार, एक मनुष्य को, जीवित रहने के लिए प्राप्त है, वही अधिकार तुच्छाति-तुच्छ कीट को भी।

क्या संघर्षण के नियम की भी इतनी ही व्याप्ति है? क्या संघर्षण अनिवार्य्य है? नहीं, नहीं। संघर्षण आत्मरक्षा के ही हेतु होता है। संघर्षण हमारा परम पुरुषार्थ नहीं। एक साधन मात्र यह है। यह साधन जानवरों के लिए आवश्यक है, क्योंकि, वे विचार-शून्य हैं। न तो उन की आत्मरक्षा ही उनके सिद्ध विचारों का फल है और न हत्या ही के लिए उनके पास कोई प्रमाण है। वे सब कार्य्य अपने स्वभाव से ही करते हैं। वे अपने साधनों में परिवर्त्तन नहीं कर सकते। इसीलिए वे दोष के भागी नहीं हैं।

हम लोग विचारवान् हैं। हम संसार के नियम पालन करते हैं। किन्तु, हम पशुओं की भांति उन से अनभिज्ञ नहीं। हमारे ज्ञान ही के कारण, हमारा उत्तरदायित्व बढ़ा हुआ है। संघर्षण के अतिरिक्त, उन्नति के और और साधन वर्त्तमान होते हुए, हम यदि उन को काम में लावें, तो हम अवश्यमेव दोषी ठहराये जावेंगे। यदि हम साधन और लक्ष्य में भेद न करें, तो हम [illegible] मूर्ख कहाये जाने के योग्य बन जाते हैं। हमको सदा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि, आत्मरक्षा हत्या,

लक्ष्य है और इसके साधन में, संघर्षण-पथ का अवलम्बन कर, हम साधन के मोह में लक्ष्य के विरोधी न बन जावें। यदि हम आत्मरक्षा के पक्षपाती हैं, तो हमको ऐसा करना चाहिए कि, और जीव भी इस नियम को सुखपूर्वक पालन कर सकें। यदि संघर्षण से, और जीवों की आत्म-रक्षा में विरोध पड़ता है, तो इसके अतिरिक्त, और कौन सा उन्नति का साधन है।

जो काम संघर्षण और हत्या से होता है, वही काम **प्रेम और सहकारिता** से हो सकता है। बड़े जीव केवल छोटे के नाश से ही अपनी पुष्टि नहीं कर सकते। छोटे को अपना साथी बना कर भी वही काम हो सकता है। हम संघर्षण में शत्रुता को बढ़ाते हैं। और अपने शत्रु के नाश से, अपना एक भावी सहायक कम अथवा नष्ट करते हैं। केवल अदूर-दृष्टि वाले ही, नाश के पक्षपाती हो सकते हैं। दुःख देकर हमको सुख नहीं मिल सकता। मार-काट से वैर का नाश नहीं होता। वैर वृक्ष का मूलोच्छेदन केवल 'प्रेम' की ही कुल्हाड़ी से हो सकता है। "Hatred ceases not by hatred but by LOVE"—'प्रेम' ही से चिरस्थायी विजय मिल सकती है। 'प्रेम' ही द्वारा संघर्षणशून्य उन्नति प्राप्त कर सकते हैं। 'प्रेम'-पथ पर चल कर, न केवल हम अपनी ही रक्षा कर सकते हैं; वरन्, सारे संसार को अभय-दान दे सकते हैं। यही है—'साम्यमयी

आत्मरक्षा'। इसी में है—'संसार की स्थिति की एक — मात्र आशा।' यह मार्ग, धर्म्म और सृष्टि के सुनियम के अनुकूल भी है। क्योंकि, सृष्टि में, नाश से, उत्पत्ति और रक्षा की प्रबलता, अधिक दिखाई देती है। यदि ऐसा न होता, तो यह संसार अभी तक स्थित न रह सकता।

दूसरों के क्षय के आधार पर हमारी वृद्धि नहीं हो सकती। हमारी सच्ची वृद्धि दूसरों ही की वृद्धि पर निर्भर है। सहकारिता से ही विद्या और व्यवसाय की वृद्धि होती है। जो प्रतिद्वन्द्विता के कारण, अपने व्यवसाय वालों का हित नहीं चाहता, वह अपने हित के विरुद्ध करता है। उन्नति सदा प्रेम और सहकारिता की अनुरागिनी होती है। हम संघर्षण द्वारा, जीवन-संग्राम में, विजय नहीं पा सकते। वह विजय ही किस काम का, जिसके बाद भी संग्राम बना ही रहे? संघर्षण से जो विजय-प्राप्ति होती है, वह चिरस्थायिनी नहीं होती। क्योंकि, उस में द्वेष की जड़ का नाश नहीं हुआ रहता। अतः पुनः समय पा कर अंकुर देने लग जाती है। हम यदि किसी जाति को अपने अधीन बनाना चाहते हैं, तो हम उससे, अपनी जाति में उच्चतम भाव पैदा करने का यत्न करें। जहाँ भावों की एकता हो, वहाँ फिर कोई भी भेद न रह जायगा। जो नियम जाति के लिए है, वही नियम व्यक्तियों भी के लिए घट जावेगा। किसी देश पर राज-नैतिक

अधिकार ही जमा लेना, उसको जीत लेना नहीं है। राज-नैतिक अधिकार का सिक्का जमाये बिना भी, हम किसी जाति पर अपना मानसिक अधिकार जमा सकते हैं। हिन्दू राजाओं का अधिकार भारतवर्ष से उठ गया। किन्तु, हिन्दू धर्म का साम्राज्य अभी तक वर्त्तमान है। धर्म का साम्राज्य अटल है। इस साम्राज्य के स्थापित करने वालों को किसी फौज़ की ज़रूरत नहीं होती। बौद्ध महाराज ने सांसारिक राज्य की कुछ भी परवाह नहीं की। किन्तु, उन का स्थापित किया हुआ साम्राज्य लग भग आधी दुनिया में वर्त्तमान है। बिचारे ईसामसीह के पास कौन सी फौज़ था। किन्तु, अपनी दया और नम्रता के बल से सारे यूरोप को वश में कर लिया। सिकन्दर का स्थापित किया हुआ साम्राज्य नाम मात्र है। किन्तु, उसके गुरु Aristotle का अधिकार अभी तक सारे संसार में वर्त्तमान है। दया, ज्ञान और प्रेम का साम्राज्य हत्या के रुधिर से दूषित नहीं है। अतएव, सत्य तथा शान्ति की ध्वजा, घर घर में, स्थापित करने का यत्न करना चाहिए।

"उन्नतिं निखिला जीवा, धर्मेणैव क्रमादिह।
विदधाना सावधाना, लभन्ते परमंपदम् ॥"

शान्तिधर्म्म

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥

Self-love but serves the virtuous mind to wake,
As the small pebble stirs the peaceful lake.
The centre moved, a circle straight succeeds
Another still, and still another spreads;
Friend, parent, neighbour, first it will embrace
His country next, and next the human race.
Wide and more wide, th' o'erflowings of the mind
Take every creature in, of every kind.

—Pope.

साम्य-मयी आत्म-रक्षा को शान्ति-धर्म्म कहते हैं। अर्थात्, जिस आत्मरक्षा में, अपनी आत्म-रक्षा के साथ, अपने से भिन्न रुचि और स्वार्थ के रखने वाले मनुष्य, तथा अन्य जीवधारियों की भी रक्षा होती रहे। हम यह नहीं चाहते कि

हमारे कारण कोई मनुष्य अपनी मुख्यता या विशेषता को छोड़ दे। अनेकता ही में एकता स्थापित करने को साम्य कहते हैं। "Uniformity amidst Diversity." अनेकता का रहना भी इतना ही आवश्यक है, जितना कि एकता का। क्योंकि, बिना भिन्नत्व के हमको संसार में रहना कठिन पड़ जायगा। संसार की जो कुछ सुन्दरता है, वह भिन्नत्वही के कारण है। किन्तु जब भिन्नत्व इतना बढ़ जाता है कि, कोई एक अंग दूसरे अंग की स्थिति में प्रतिबाधक हो जाता है, तब ही हमको संसार में द्रोह, कलह, वैमनस्य और वैषम्य दिखाई पड़ने लगजाता है। इसी भिन्नत्व को उचित सीमा में रखने का नाम 'साम्य' है। हम बिना अपने अपने भेदों को छोड़े हुए भी प्रीतिपूर्वक रह सकते हैं। यदि हमको इस बात का निश्चय हो जावे कि, कोई बात, जिसको कि एक आदमी, अपना धर्म्म करके मान रहा है, वह उसके लिए इतना ही आवश्यक है, जितना कि हमारा धर्म हमारे लिए, तो बहुत से धर्म-सम्बन्धी लड़ाई-झगड़े मिट जावें। जो जिसका धर्म है, वही उसके लिए अनुकूल पड़ता है। इसलिये हमको किसी के धर्म की बुराई नहीं करना भी चाहिए! श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

हमको किसी आदमी की अविद्या अथवा मूर्खता पर

हँसना नहीं चाहिए। न उसको घृणा की दृष्टि से देखना ही चाहिए। कारण कि, उसकी मूर्खता, उसका दोष नहीं है। कोई आदमी जान बूझ कर मूर्ख नहीं बनना चाहता। हमको उसके साथ सहानुभूति करना चाहिए। और, उसको ऐसी सुशिक्षा देने का प्रयत्न करना चाहिए कि, वह अपनी मूर्खता को स्वयं ही देख सके। इसी प्रकार, हम उस मनुष्य से भेद रखते हुए भी, एक हो सकते हैं। इस विषय में किसी हिन्दी कवि ने कहा भी है:—

'जाकी जितनी बुद्धि है, तितनो देत बताय।
ताको बुरो न मानिये, बहोत कहाँ से लाय॥

इस धर्म्म के उपदेश के अनुसार हमको किसी से झगड़ा नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा है तो, क्या हम को निष्क्रिय होकर बैठ रहना श्रेय है? नहीं। शांति-धर्म्म कभी निष्क्रियता नहीं सिखलाता। वरन्, अपनी शक्तियों का स्वव्यवस्थित रीति से व्यवहार करना बतलाता है। अपनी शक्तियों को सदा व्यवहार में लाना चाहिए। किन्तु, उनका दुरुपयोग करना अच्छा नहीं। हम यह नहीं कहते कि, मौन होकर बैठ रहो। किन्तु, जो कुछ बोलो वह सत्य और प्रिय बोलो। यदि सत्य और प्रिय नही बोल सकते तो मौन रहना ही अच्छा है। "वरंमौनं कार्य्यं न च वचनमुक्तं यदनृतम्"। शक्तियों के दुरुपयोग से उनका काम में न लाना ही अच्छा है। किन्तु, यदि हम उनको

दूसरों के हित के लिए काम में लासकते हैं, तो उस दशा में, उनका व्यवहार में न लाना ही सर्वथा अश्रेयकर है। शक्तियों के सदुपयोग से कभी संसार को हानि नहीं पहुँच सकती। इसलिए, हमको उनका सदा उचित रीति से व्यवहार करते रहना चाहिये। यदि हम में विद्या है तो, हमको वाद विवाद अथवा दूसरों की निन्दा में, उसको काम में लाना नहीं चाहिए। किन्तु, उस के द्वारा हमको संसार में सुख और शान्ति स्थापित करने के उपाय सोचना चाहिए। यदि हम में शारीरिक बल है, तो हम उसको दूसरों के सताने में न खर्च करें, वरन् हम उसके द्वारा निर्बलों की रक्षा करें।

'शान्ति-धर्म' सतोगुण का बढ़ाने वाला है। सतोगुण में न तो रजोगुण कीसी क्रिया की अतिशयता है, और न तमोगुण का सा क्रिया का अभाव है। 'सतोगुण' ही 'शान्ति' और 'साम्य' का दूसरा नाम है। क्रिया की अतिशयता से, संसार को हानि पहुँचने की सम्भावना रहती है। और, क्रिया के अभाव से संसार का कार्य्य बन्द हो जाता है। अपनी क्रियाओं को, उचित सीमा से, बाहर न होने देना ही, 'शांतिधर्म्म' का मूल मंत्र है। न तो हम को इतना स्वार्थ त्याग करना चाहिये कि, हम बिल्कुल स्वत्वशून्य हो जावें, और संसार की सेवा करने के योग्य न रहें; और न इतने स्वार्थी बन जावें कि, हम अपने स्वार्थ

के आगे, दूसरे का अनहित करने को तैयार हो जावें। हमको अपना हित उसी हद तक साधने की चेष्टा करनी चाहिए जहाँ तक कि हमारे हित साधन से दूसरे के स्वार्थ की हानि न हो। हमको ऐसा करना चाहिये कि, हमारे स्वार्थ में और और लोगों का भी स्वार्थ पूरा हो जावे। हमें अपनी आत्मा को इतना संकुचित नहीं बनाना चाहिए कि, हम उसको अपने शरीर से बाहर न समझें। यदि हम अपनी आत्मा को और सब आत्माओं से एक करलें तो अवश्य हमारे हितसाधन में और सभी आत्माओं का भी हितसाधन हो जावेगा। अपनी आत्मा को शरीर में ही सीमाबद्ध मानना संघर्षण का मूल है। जो लोग सारे संसार ही को अपना कुटुम्ब मानते हैं, वे कदापि किसी से झगड़ा नहीं कर सकते—"Love would never harm or wrong the thing it loved." और, न वे निष्क्रिय ही रहेंगे। वे सदा दूसरों के हितार्थ, सुख एवं शान्ति स्थापित करने ही में अपना हित तथा कल्याण समझेंगे। उनके हृदय से द्वेष और भेद जाता रहेगा। और, वे लोग न केवल अपनी ही आत्मा को शान्ति दे सकेंगे, वरन् अपने सम्बन्ध में आने वाले लोगों को भी शान्ति का सुख अनुभूत करा सकेंगे।

"शान्तिधर्म्म के अंग"।

ज्ञान ग़रीबी हरि भजन, कोमल भजन अदोष।
'तुलसी, कबहूँ न छाँडिये, क्षमा-शील-सन्तोष ॥

" A soft answer burneth away wrath."

"शान्तिधर्म्म" कोई नवीन धर्म नहीं। संसार के सारे धर्म केवल 'शान्ति' और 'साम्य' ही का सदुपदेश देते हैं। जो और शुभ धर्म्मों के अंग हैं, वे ही शान्तिधर्म के,। इन अंगों में 'ज्ञान' सब से बड़ा अंग है। कारण कि, हमारी क्रियाओं का जन्म हमारे विचार और संकल्पों से होता है। इसके अतिरिक्त एक और भी कारण है। वह यह है कि, शान्तिधर्म आत्मरक्षा से सम्बन्ध रखता है। और, बिना ज्ञान के हमको यह बोध नहीं हो सकता कि, हमारी सची स्थिति किसमें हैं। जब तक, हमको

अपनी आत्मा की व्याप्ति नहीं मालूम होती, तभी तक सारा संघर्षण है। ज्ञान के उदय होने पर अशांति, द्रोह, द्वेष, कलह, विरोध और वैमनस्य कदापि नहीं टिक सकते। इन सब आपत्तियों का मूल मन्त्र 'भेद' है। और, भेद का नाश विना ज्ञान के नहीं हो सकता। जो लोग प्राणी मात्र में, एक आत्मा का विकाश देखते हैं, उनके लिए भेद का नाश हो जाता है। वे लोग न किसी से द्वेष रखते हैं, न किसी से वैर विरोध। उन के लिए तो अखिल विश्व ही स्वजनतुल्य है। इसी सच्चे ज्ञान के अभाव से, हम अपने को, और मनुष्यों से, अलग समझने लग जाते हैं। उनकी ख़ुशी में हमको ख़ुशी नहीं होती। उनके दुःख दर्द में हम आँसू नहीं बहाते। अपने दुःख को हम पहाड़ के समान समझते हैं। दूसरे के दुःख को हम बालू के कण से भी तुच्छ समझ लेते हैं। अपने स्वार्थ की दहकती हुई आग के सामने, दूसरे का हित ठंढ़ा पड़ जाता है। हम अपने अज्ञान में दूसरे के हित को भूल जाते हैं। यही अज्ञान सब द्रोह और अशान्ति का मूल है। हमको जानना चाहिए कि, संसार में हमारे अतिरिक्त और भी जीवधारी हैं। हमारे लिए अग्नि, यदि दाहक-शक्ति रखती है तो दूसरे के लिए शीतल नहीं होजायगी। यदि हमको अपमान से दुःख पहुँचता तो दूसरा तिरस्कार किये जाने पर हमको आशीर्वाद नहीं दे सकता। ग़रीब और अमीर,

सुखी और दु:खी, उन्नत और दीन हीन, पंडित और मूर्ख, राजा और रंक, छोटे और बड़े तथा काले और गोरे; सब ही में वही एक आत्मा अनेक रूपधारी होकर विद्य-मान है।

दूसरे का दु:ख दु:खी ही समझ सकते हैं। "जाके पाँव न फटी बिवाई—सो क्या जाने पीर पराई"। जिन्होंने स्वयं दु:ख नहीं उठाया वह दूसरे के दु:ख का अनुमान नहीं कर सकते। अमीर आदमी दूसरों का अपमान करने के लिए, सदा प्रस्तुत रहते हैं। सच कहा है कि—

"कोउ नहिं अस जन्मेउ जगमाहीं।
प्रभुता पाइ जाहि मद नाहीं" ॥
(गोस्वामी)

यदि धन से अपमान और निर्धनता बढ़ती है तो निर्धन होना ही धन्य है। ग़रीबों के सुख ग़रीब ही जानते हैं। जो सुख और शान्ति ग़रीबी में है वह अमीरी में नहीं। ग़रीब ही लोग सन्तोष और प्रेम का आनन्द अनुभूत कर सके हैं। सच्ची अमीरी धन की अधिकता से नहीं प्राप्त होती; वरन्, चित्त की उदारता से। फ़ारसी में कहा हुआ है कि—"तवङ्गरी व दिलस्त न बमाल।" चित्त को उदार बनाने का यत्न करना चाहिए। कोरी अमीरी से शान्ति नहीं मिल सकती।

बाइबिल में लिखा है कि—"सुई के नाके में से

ऊँट का जाना सहल है किन्तु अमीर आदमी का ख़ुदा की बादशाहत में दाख़िल होना कठिन है। ग़रीबी के साथ साथ ज्ञान और संतोष लगा हुआ है, तो ग़रीबी का होना बुरा नहीं। धन्य हैं निर्धन लोग जो स्वयं सताये जाने पर भी दूसरों को नहीं सताते।'

संसार की एकता का ज्ञान जैसा ग़रीब आदमियों को होता है—वैसा अमीर आदमियों को नहीं। संसार की एकता जानने के लिए यह आवश्यक नहीं कि हम एक साथ ही निर्धन बन जायँ। अमीर होते हुए भी हम ग़रीबी का भाव धारण कर सकते हैं। हम सब को ग़रीब आदमियों की भाँति नम्र बनना चाहिए। ग़रीब आदमी हमारे आदर के योग्य हैं। क्योंकि वे अपने जीवन से सन्तोष आदि सद्गुणों का उपदेश देते रहते हैं। उनके जीवन से हमको शिक्षा मिलती है कि सच्चरित्र मनुष्य बनने के लिए धन की आवश्यकता नहीं। आत्मा की उच्चता का बाहरी ठाठ से कुछ सम्बन्ध नहीं। संसार जिनको बड़ा आदमी कहता है उनके अतिरिक्त और भी बड़े आदमी हैं, जिनकी आत्मा हमारी आत्मा से कई दर्जे ऊँची है। ग़रीब और अमीर सब ही में एकही आत्मा का विकाश हो रहा है। इसलिए सब ही हमारे पूजा के योग्य, सब ही हमारे बन्धु और सब ही हमारे मित्र हैं। इसलिए किसी से द्वेष नहीं करना चाहिए।

यदि हमको इस गूढ़तत्त्व का सम्यक् रूप से ज्ञान हो गया तो फिर हमको किसी धर्मशास्त्र के पढ़ने की कुछ आवश्यकता नहीं रह जायगी। किन्तु, यह ज्ञान होना भी तो सहज नहीं। सारे धर्म इसी एकता की ओर जाते हैं। वह एकता ईश्वर द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए हमको अपनी अपनी रुचि और अपने धर्म के अनुकूल ईश्वरोपासना में प्रवृत्त होना चाहिए। ईश्वर शान्ति का भाण्डार है। हमको शान्ति उसी जगह से मिल सकती है। किन्तु, उसकी प्राप्ति के लिए हमको बहुत से प्रयत्न करने पड़ेंगे। शान्ति का सुख चाहने वालों को सदाचार की बड़ी दरकार है। सदाचार में सभी सद्गुण आजाते हैं। यह सब गुण शान्ति मार्ग में चलने के लिए सहायता देंगे।

शान्ति के पथ पर चलने वाले को सब प्रकार की हिंसा से बचना पड़ेगा। वास्तव में अहिंसा—शान्ति ही का दूसरा नाम है। जीवों को केवल अभयदान देना ही अहिंसा नहीं है। मनसा-वाचा-कर्मणा, किसी प्रकार से, किसी को, हानि नहीं पहुँचाना—अहिंसा का सत्य-स्वरूप है।

> "कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
> अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसा परमर्षिभिः" ॥

वाणी की हिंसा, शस्त्र की हिंसा से भी बड़ी है।

वाणी द्वारा जो हिंसा की जाती है, उसका फल चिरस्थायी होता है। इसलिए, दूसरे के साथ बात चीत में, हमको हमेशा इसका ध्यान रखना चाहिए कि, हम अपने शब्दों से किसी का जी तो नहीं दुखा रहे हैं। हम जो शब्द अपने मुख से निकालें, वह बिना सोचे समझे—बिना विचारे बूझे— कभी न निकालें। हमको अच्छे अच्छे शब्द तो बोलने ही चाहिए, उसके साथ साथ, हमको यह भी ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है कि, हम उन शब्दों को ऐसी ध्वनि में तो नहीं कहते, जिससे कि हम दूसरे के ऊपर अपना अनधिकार आधिपत्य जमाते हों। विचारने की बात है कि—

"कागा काको धन हरे, कोयल काको देत।
मीठी बोली बोल कर, जग अपनो कर लेत॥"

हिंसात्मक विचारों से सदा बचते रहना चाहिए। क्योंकि, न जाने वह विचार कब क्रिया में परिणत हो जावें। जिस बात को हम विचारते रहते हैं, वह कभी न कभी हमारी जिह्वा पर आ ही जाती है। और, फिर उसके कारण हमें दुःख का दुःसह भार उठाना और ढोना पड़ता है।

हिंसा से केवल दूसरों का ही नाश नहीं होता, बल्कि अपना भी। हम दूसरे के शरीर का हनन करते हैं—बस यही हिंसा नहीं—बल्कि, हिंसा द्वारा हम अपनी अन्तरात्मा का हनन कर डालते हैं। हिंसक

लोग संसार में अशान्ति के बीज बो देते हैं। और, कभी कभी, स्वयं ही, अपने लगाये हुए वृक्ष का कटु फल चखते हैं।

अहिंसा के साथ साथ, क्षमा भी परमावश्यक है। बहुत से लोग ऐसे हैं, जो स्वयं हिंसा नहीं करते। किन्तु, हिंसा के बदले हिंसा करने के लिए सहज ही में तैयार हो जाते हैं। प्रति-हिंसा से भी, द्वेष के बीज बोये जाते हैं। अशान्तिमय साधनों से स्वप्न में भी सुशान्ति नहीं सुलभ होती। क्षमाशील—सहिष्णु—बनने की बड़ी कड़ी आवश्यकता है। 'क्षमा रूपं तपस्विनाम्'। बिना क्षमा की आराधना किये ; जप, तप, ज्ञान, पूजा, धर्म, कर्म कुछ भी शोभा नहीं देते। प्रति हिंसा करने वाले लोग अपने को हिंसक की श्रेणी में रख लेते हैं। उनकी संज्ञा हिंसक की हो जाती है। बस, केवल, क्षमा करने वाले ही का स्थान ऊँचा रहता है। क्रोध को जीत लेना ही सच्ची क्षमा है। क्रोध पर विजय लाभ करने से जो 'यत्परो नास्ति' आनन्द अनुभव होता है वह अपरिमेय आह्लाद अन्य शत्रु के ऊपर जय प्राप्त करने से नहीं प्राप्त होता।

क्षमा कर देने में जो स्थायी सुख है, वह बदला लेने में नहीं। क्षमा का महत्त्व वही लोग जानते हैं जिन लोगों ने इसके लोकोत्तर आनन्द को अनुभूत किया है। क्षमा वीरों का भूषण है—न कि कायरों का।

आत्म-गौरव रखने वाले लोगों का, दूसरे से क्षमा-प्रार्थी होने में, अपनी अभिरुचि न प्रकट करना ही इस बात को सिद्ध करता है कि, क्षमा चाहने वाले का दर्जा क्षमा करने वाले से छोटा होता है। क्षमापात्र से क्षमाशील की महिमा बहुत ही बढ़ी चढ़ी है। क्षमा करने का अवसर सौभाग्य से ही मिलता है। क्षमा करने वाले को सहज ही बड़ाई मिल जाती है। केवल इतना ही नहीं, क्षमाशील पुरुष अपने शत्रुओं को, सदा के लिए, दास बना लेते हैं। यदि हमको क्षमा करने का अवसर मिले तो उसे हर्गिज़ हाथ से न जाने दें। क्योंकि, क्षमा ही शान्ति की सहचरी है।

हम को ऐसा करना चाहिए कि, हम ही सर्वदा सर्वत्र दूसरों को ही क्षमा करते रहें ; और कभी भूल कर भी ऐसा अवसर अपने आँखों के आगे न आने दें कि, हमें भी किसी दूसरे के समक्ष अपराधी के रूप में क्षमा की भीख मांगनी पड़े। यदि हम स्वयं क्रोध को रोकने की चेष्टा करते हैं तो, हम को यह भी उचित है कि, अपनी सुशीलता द्वारा तथा अपने सद् व्यवहार के सहारे, दूसरों में क्रोधाग्नि प्रज्वलित होने से रोकें। तब तो "शान्ति-धर्म" का निरन्तर प्रचार बढ़ता जाना सम्भव है। इन्हीं सन्मार्गों का अवलम्बन करने से शान्ति का विस्तार भली प्रकार से हो सकता है। इसके लिये—'शील' और 'सन्तोष'

की बड़ी ही आवश्यकता है। शीलवान् पुरुषों का सबसे ऐसा सद्-व्यापार रहा करता है कि, उनसे कोई भी उदासीन, उन्मना अथवा प्रतिकूल नहीं रह सकता। वे सबके प्रिय बन जाते हैं। नम्रता के आगे सब अस्त्र शस्त्र निष्फल हो जाते हैं। 'सर्व शीलवता जितं'। हम अपनी नम्रता से केवल अपने को ही लाभ नहीं पहुँचाते, वरन् दूसरों को भी कोपाग्नि में भस्म होने से बचाते हैं। हम को अपनी नम्रता वाणी और व्यवहार दोनों ही में दिखानी चाहिए।

मीठे वचन से जो सुख और सन्तुष्टि का लाभहोता है वह किसी सुधारस से सनी हुई मिठाई से भी सम्भव नहीं है। यह ऐसी मिठाई है जिसका मिठास किसी तरह की हानि नहीं करता। आत्मा की तृप्ति इसी ही मिठाई से हो सकती है। सत्प्रवृत्ति की रुचि इसी स्वाद से उपजती है। हित और प्रिय-वादियों के शिरोमणि गोस्वामी तुलसी-दास ने मधुभाषण के विषय में कैसा अच्छा कहा है।

"तुलसी मीठे वचन सों, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण यह मंत्र है, परिहरु वचन कठोर।"

फिर भी, अच्छे वचनों से केवल दूसरे ही को लाभ नहीं पहुँचता, वरन् हमारे भाव भी अच्छे बनते जाते हैं। सद्वचनों से सद्भावों की सृष्टि होती है। सद्भावों से सत्कर्म्मों की उत्पत्ति है। सत्कर्म्मों से ही आत्मा परिष्कृत और

परिमार्जित होती है। सद्विचारों द्वारा ही सदाचार का जन्म होता है।

हम को अपने भाव वाणी के अनुकूल बनाना चाहिए। और, वाणी को भावों के अनुकूल। मीठे वचन, उसी अवस्था में, फलदायक होते हैं, जबकि उनका अंकुर, सच्चे और शुद्ध हृदय के तह से उठता है। अन्यथा, वह विषपूर्ण कनक-कलश की भाँति सर्वथा अग्राह्य है। वाणी और व्यवहार की नम्रता के लिए हमें सन्तोष, दया, दाक्षिण्यादि गुणों को बढ़ाना चाहिए। अपने अभ्यन्तर से ईर्षा, द्वेष, द्रोह, दर्प, मद, मत्सर, मोह, मान आदि अवगुणों को निरन्तर अभ्यास द्वारा बहिष्कृत कर डालने की चेष्टा करते रहनी चाहिए। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्णदेव ने अर्जुन के इस प्रश्न—"मनः हि चंचलं कृष्ण प्रमाथी बलद्दृढ़म्...." का स्पष्ट उत्तर दिया है कि "आंधी सदृश प्रबल मन केवल मात्र वैराग्य साधन के अभ्यास से ही एकाग्र (निश्चल) बनाया जा सकता है।"

इस संसार में, 'असन्तोष' भी—बहुत से लड़ाई और झगड़ों का कारण है। असन्तोषी के लिए अखिल विश्व भी पर्य्याप्त नहीं। चक्रवर्त्तित्व में भी सुख का लेश नहीं। उसके लिए सारा संसार यन्त्रणा और परिताप से परिपूर्ण है। क्योंकि सभी इच्छाओं के पूर्ण हो जाने पर भी तृष्णा तरुणी ही बनी रहती है। असन्तोष ही एक

भारी विघ्नबाधा है जो शान्ति के स्थापित होने में सबसे पहले आ खड़ी होती है। असन्तोषी की सारी अभिलाषाएँ कभी भर पूरी नहीं हो सकतीं। क्योंकि संसार में और लोग भी तो ऐसे अनेक पड़े हैं, जिन्हें लोभ की लोल लहर बहाये फिरती है। जो तृष्णा की तरल तरंग में तलेऊपर होकर तड़प रहे हैं, उनकी तृप्ति कभी भी नहीं हो सकती। वह आजन्म अथवा आमरण दुःखी रहेगा—यह ध्रुवसिद्धान्त—यह अटूट नियम—यह अटल परम्परा प्रतिक्षण प्रमाणित होती है, किन्तु तब भी हम तृष्णा-जाल से बाहर होना नहीं चाहते।

असंतोषी मनुष्य स्वयम् भी दुःखी रहता है और दूसरों को भी दुःखी बनाये रखता है। उसके द्वारा बहुतों को कष्ट पहुँचता है। किन्तु, सन्तोषी मनुष्य अपने भी सुखी रहता है, और दूसरों को भी सुख शान्तिपूर्वक रखता है। असन्तोषी मनुष्य यम-यातना की मूर्त्ति है और सन्तोषी मनुष्य की स्वर्गीय-प्रतिमा पूजनीय होते हुए सुखशान्ति-विस्तारिणी है। कामनाओं के कलेवर में बृहदाकार होने से पीड़ा एवं क्लेश की सृष्टि होती है। और सन्तोष ही केवल सुखशान्ति का कारण और अशान्ति का अन्तक है। एक महात्मा की वाणी है कि—

"धनी सुखी नहिं तोष बिनु, तुष्ट निधन सुखवान।
नृप सुख हित पचि पचि मरे, मन मुनि मोर महान॥"

सन्तोष के साथ और और सद्गुणों की यथेष्ट वृद्धि करने की कोशिश करनी चाहिए। शान्ति-मय जीवन के लिए हमको यह आवश्यक है कि हम सब किसी से भेद भाव छोड़ कर अभिन्न हृदय से मिलें जुलें। किसी की बड़ाई वा सम्पत्ति देख कर हमारी आंखों से चिनगारियां न निकलें। किसी की उन्नति से हमारा हृदय सन्तप्त न होने पावे। किसी को अपने से नीचा न समझें। जो लोग स्वयम् शान्तिपूर्वक रहना चाहते हैं, उनके लिए यह परमावश्यक है कि, वे दूसरे की सुखशान्ति में किसी प्रकार की विघ्नबाधा न उपस्थित करें। सब को अपना आत्मरूप करके देखें। दूसरों के दुःख में दुःखी और दुखिये का दुख दूर करने में सयत्न हों। संसार से बिल्कुल अलग हो जाने को वैराग्य नहीं कहते। बल्कि, अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की ओर ध्यान न देकर, अपने स्वार्थ-सर्वस्व को तिलाञ्जलि देकर, विश्व जगत् के उपकार में लग जाना—यही वैराग्य की सत्ता है। यह सद्गुण सुलभ नहीं है। इसके निमित्त अविच्छिन्न रूपेण अभ्यास करते रहने की आवश्यकता है। हमारी पाशवी प्रवृत्ति प्रबला होकर इन सत्कर्मों की ओर झुकने से रोकती है। इसी अर्थ मनोवृत्तियों को दमन करने की बात शास्त्रों में बतलाई गई है। हमको बुरे कामों से अपने चञ्चल चित्त को अलग रखने की चेष्टा करनी चाहिए। सांसारिक

प्रलोभनों में अशान्ति की विषाक्त ज्वाला छिपी हुई है। सहज स्वच्छन्दचारी मन के ऊपर शासन रखने से ही शान्तिरूपिणी ऐश्वर्य्यशालिनी देवी का दर्शन होता है। मन मातङ्ग को कभी निरङ्कुश नहीं होने देना ही श्रेयस्कर है। मन को एकाग्र करने के अनन्तर—उसे अपने क़ाबू में लाने के बाद—अच्छे अच्छे बड़े कार्य्यों में दत्तचित्त होने की चेष्टा करनी चाहिए। मन का झुकाव—चित्त की प्रवृत्ति—मानसिक अभिरुचि—शुद्ध और संस्कृत कार्य्यों की ओर बढ़नी चाहिए। मन को मारने की ज़रूरत नहीं। बल्कि, मन को सच्ची राह पर ले चलाने की ज़रूरत है। उसे अच्छा बनाने की ज़रूरत है। उसे सात्त्विक रूप देने की आवश्यकता है। हमको अपना स्वाभाविक सन्मार्ग निर्माण करना चाहिए। हमें अपने को ऐसे साँचे में ढालना चाहिए कि, विना प्रयास के ही हम से अच्छे अच्छे कामों का श्रीगणेश होने लगे। विना किसी तरह के परिश्रम के ही, स्वाभाविक रीति से, हमारी सत्कार्य्य में दृढ़ प्रवृत्ति होने लगे।

हम अपने कर्मों से ही ऊँचे अथवा नीचे पद को पाते हैं। हमारे स्वभाव और संकल्प से हमारे कर्म बनते हैं। हमको अपने स्वभाव और संकल्पों के संशोधन का यत्न करना चाहिए। सच्चरित्र सज्जन सारे संसार को लाभ पहुँचा सकते हैं। जो सच्चरित्र नहीं हैं उनसे शान्ति

का प्रसार नहीं हो सकता, केवल सुख का ह्रास ही होगा। शान्ति का पाठ अभ्यस्त करने वालों को सच्चरित्र बनने की लगन लगानी चाहिए। यदि हम बुरे हैं तो खाली अपने ही को बुरा बना कर नहीं छोड़ रखते बल्कि सारे संसार में बुराई के बीज वपन करते हैं। हम अपनी अच्छाई से सारे संसार को अच्छा बनाते हैं और बुरे होकर संसार का अभीष्ट साधन करते हैं। जब तक हम अपनी मानसिक और शारीरिक शक्तियों का उचित व्यवहार करना नहीं सीखेंगे तब तक हम से किसी का कुछ भी उपकार नहीं हो सकता।

हमारे कार्य्यों का परिणाम बड़ी दूर तक पहुँचता है। इसलिए जो कुछ हम करें, उसे सोच विचार कर करें। हमारे काम हम ही तक रह जाते तो इतनी हानि होने की सम्भावना न थी, किन्तु हमारी कार्य्यावली का प्रभाव सारी समाज पर पड़ता है। इसीलिए, हमारा उत्तरदायित्व बहुत ही बड़ा है। यदि हम कोई एक अशान्ति-जनक कार्य्य कर बैठते हैं तो समस्त समाज में अशान्ति के अंकुर पैदा कर डालते हैं। अतएव, हमें सर्वदा इस चेष्टा में संलग्न होना चाहिए कि हमारे किसी भी कार्य्यों द्वारा किसी का अणुमात्र भी चित्त न दुखे। यदि किसी के चित्त पर चोट पहुँची—आत्मा पर आघात लगी—तो उसी दम प्रेमवल्लरी के आश्रयभूत शान्ति-वृक्ष पर घोर वज्रपात हुआ। हमारा कार्य्य किस सीमा तक दूसरे

की सुखशान्ति का विरोधी बनता है—इसका सविधि निरीक्षण बड़ी सावधानी से करते रहना चाहिए। क्योंकि हमें दूसरों को अशान्ति वितरण करने का क्या अधिकार? विश्वव्यापिनी शान्ति का साम्राज्य सुदृढ़ बनाने के लिए ही सत्य, सन्तोष, अहिंसा, क्षमा, दया, दाक्षिण्य, सदाचार, सच्चरित्रता, सुशीलता, नम्रता और औदार्य्य की सत्ता समझी जाती है। इन सारे सोपानों के सहारे से ही सज्जन-समुदाय शान्ति-शैल-शिखर पर आरोहण करने में समर्थ होते हैं। बस, केवल शुद्ध सद्विचारों द्वारा ही हमारे स्वभावों का स्वरूप संस्कृत और परिष्कृत हो सकता है। स्वभावों का कलेवर निर्विकार हो जाने पर हम शान्तिमार्ग पर चलने की योग्यता प्राप्त कर सकते हैं।

जो लोग दूसरों को सुख और शान्ति पहुँचाने में यत्नवान् रहते हैं, वे लोग स्वयम् भी सुखशान्ति से भरपूर रहते हैं। जो लोग दूसरों के हित-साधन में समय व्यतीत करते हैं उनका परिश्रम कभी वृथा नहीं जाता। इसलिए हमको चाहिये कि हम 'आत्मरक्षा' की उचित सीमाओं को समझें। उनके बाहर जाने की चेष्टा हम स्वयम् भी न करें और दूसरों को भी उसका उल्लङ्घन करने से रोकें। असन्तोष, आलस्य, द्वेष, मात्सर्य्य, दम्भ, इत्यादि अवगुणों को अपने हृदय से बाहर करें। अथ च, अपने शान्ति और सद्व्यापार द्वारा दूसरे लोगों में से भी इन उप-

द्वी अवगुणों का समूल नाश करने का उपाय करें। प्रत्येक जीवधारी की सद्गुणावली और सच्ची शक्तियों के यथोचित विकाश होने में सहायता दें। हम सब लोगों का यही प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए कि, संसार में संघर्षण, हिंसा और प्रतिहिंसा को दूर करने में एक दूसरे की सहायता कर इस शुभ कार्य्य में योग दान दें। हम लोगों को अपनी सब शक्तियों को एक ओर केन्द्रस्थ कर ऐसा यत्न करना चाहिए कि, 'विश्वप्रेम' के विस्तार से 'आत्मीयता' के प्रचण्ड मार्त्तण्ड की प्रखर किरणों का इतना प्रसार हो जाय कि, संसार से निन्द्य कर्म्मों और घृणास्पद विचारों के बादल छिन्न भिन्न हो, चारों ओर शान्ति की प्रेममयी मूर्त्ति दिखाई पड़ने लगे और सदा साम्य की सुखमयी सुधाधारा का अनवरुद्ध प्रवाह संसार को प्लावित कर संघर्षण और द्वेष की दहकती हुई अग्नि को शान्त कर दे।

इसी प्रकार शान्ति देवी का निर्वाण-निकुञ्ज निर्माण करके संसार में सुख-वसन्त को निमन्त्रित किया जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य चिरशान्ति को स्थापित करने के अर्थ विश्वसेवा द्वारा अपना मानव-जीवन सफल करे।

"शुभमस्तु सर्वजगतां, सर्वो भद्राणि पश्यतु।
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु"

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

F W Thomas, Esq, M A PhD India Office, London —" All books are well printed on good paper and do credit to your Publishing House

Lala Kannomal, Esq, M A ' Your publications are of a very high order They are scholarly as well as models of up to-date printing I shall immensely profit by their study

OUR PUBLICATIONS.

		Rs	a.
1.	Dravya Samgraha	4	8
2.	The Key of Knowledge	10	0
3.	The Practical Path	2	0
4.	The Pramatma Prakasa	2	0
5.	Outlines of Jainism	3	0
6.	Warren's Jainism	1	0
7.	The Science of Thought	0	8
8.	Nyayavatara	0	8
9	Nayakarnika	0	8
10.	The Jaina Law	1	4
11.	Jaina Gem Dictionary	1	0
12.	Dictionary of Jaina Biography	1	0
13.	A Peep behind the veil of Karmas	0	2
14.	Jainism not Atheism	0	2
15.	Pure Thoughts	0	2
16.	What is Jainism	0	1
17.	Husna -I Avval (in Urdu)	1	8
18.	An Insight into Jainism	0	4
19.	Ratna Kranda Sravakachara, (in Press)		
20.	Purushartha-Siddha-Upaya, (in Press)		

PUBLISHER

KUMAR DEVENDRA PRASAD JAIN

THE CENTRAL JAINA PUBLISHING HOUSE
ARRAH, (INDIA.)